Journal of Advances and Scholarly Researches in Allied Education
Vol. XV, Issue No. 1, April-2018, ISSN 2230-7540

उत्तरवैदिक काल में आर्थिक क्षेत्र में विकास

Rahul Ranjan Singh[1]* Dr. Deben Kalita[2]

[1] Research Scholar, Department of History

[2] Assistant Professor, CMJ University, Shillong, Meghalaya

सार – *भारत ने केवल भारतीयता का विकास नहीं किया, उसने चिर-मानव को जन्म दिया और मानवता का विकास करना ही उसकी सभ्यता का एकमात्र उद्देश्य हो गया। उसके लिए वसुधा कुटुंब थी। राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक क्षेत्रों में धर्म का प्रावधान होने से जीवन में एक आलौकिक विचारधारा का समावेश हुआ। प्राचीन हिंदुओं की राजनीति हिंसा, स्वार्थ पर अवलंबित न होकर प्रेम, सदाचार और परमार्थ पर आधारित थी। व्यक्ति का विकास ही समाज का विकास समझा जाता था। आर्थिक क्षेत्र में भी जीवन की कोमल व पवित्रधार्मिक भावनाएं क्रियाओं का निर्देशन करती थी, यहाँ तक की संपूर्ण भारतीय सामाजिक संगठन मानव की मूल भावनाओं तथा जीवन के सिद्धांतों पर आधारित था। जीवन का उद्देश्य था, एक आदर्श था और उसकी प्राप्ति संसार की सभी भौतिक विभूतियों से उच्चतर समझी जाती थी।*

कुंजी शब्द – *राजनीति हिंसा, आलौकिक विचारधारा, राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक क्षेत्रों*

----------X----------

परिचय

उत्तरवैदिक ग्रन्थों और सूत्र-

साहित्य तथा अन्य उत्तरवर्ती साहित्य में ऊपर उद्धृत व्यवसायिक वर्गों का उल्लेख मिलता है। 'यजुर्वेद' के अतिरिक्त 'वाजसनेयी संहिता', 'शतपथ ब्राह्मण', पंचवि' ब्राह्मण', 'अथर्ववेद' आदि में अनेक शिल्पकारों के कार्यो का वर्णन किया गया है। 'वाजसनेयी संहिता' से विदित होता है कि उस युग में 'धीवर', दाशा' और कैवर्त जैसे कई तरह के मछुए 'कीनाश' और 'वप' जैसे कृपि करने वाले किसान, आदि विभिन्न कार्य करने वाले लोग थे। उस युग में कपड़े धोने का काम करने वाले 'वास पल्पूली' (धोबी), मणि का धंधा करने वाले 'मणिकार' बेत का काम करने वाले 'विदलकार' और रस्सी बटने का काम करने वाले 'रज्जुसर्ज' कहे जाते थे। इनके अतिरिक्त रथकार', धनुषकार, इशुकार, अयसताप (लोहा गलाने वाले लोहार), हिरण्यकार (सोनार), कुलाल (कुम्हार), वनप (जंगलों की देख-रेख करने वाले) आदि भी समाज में थे। व्यापार करने वाले 'वणिक' भी थे तथा ब्याज पर रूपये प्रदान करने वाले लोग भी जिन्हें 'कुसीदी' कहा जाता था। 'श्रेष्ठि' और प्रधान व्यापारी थे जिनके लिए 'श्रेप्टय' शब्द का प्रयोग किया गया हैं। कपड़े रँगने का काम करने वाली स्त्रियों को श्रजयित्री' कहा जाता था। 'कसीदा' और सूई का काम करने वाली स्त्री 'पेशस्कारी' के नाम से ख्यात थीं। बाँस का काम करने वाली 'कंटकीकारी' और बेत की टोकरी बनाने वाली 'विदलकारी' के नाम से जानी जाती थी। यजुर्वेद में हिरण्य, अयस, श्याम, सीस और त्रपु जैसी अनेक धातुओं का उल्लेख है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि उस युग में विभिन्न धातुओं के शिल्पकार थे। अथर्ववेद में ताँबे के लिए 'लोहित अयस' और लोहे के लिए 'श्याम अयस' का प्रयोग हुआ है।

उत्तरवैदिक काल में आर्थिक क्षेत्र

उत्तर वैदिक काल में लुहारों, बढ़इयों (तक्षकों) सोना-चांदी के काम करने वालों, जुलाहों, तेलियों, टोकरी बनाने वालों, रंगरेजों, चित्रकारों और मालियों की श्रेणियों का उल्लेख मिलता है। विवेच्य काल में मछुआरों, ग्वालों, धीवरों, नाइयों, धोबियों ने भी अपनी अलग श्रेणियां विकसित कर ली थीं और अपने-अपने व्यवसाय से संबंधित कार्यों को बड़ी निपुणता एवं कुशलता के साथ करते थे। उत्तर वैदिक काल में व्यापारिक परिवर्तनों में 'मुद्रा प्रणाली' का प्रचलन एक महत्वपूर्ण कारक था। इस युग में मुद्राओं के प्रचलन से व्यापार को काफी प्रोत्साहन मिला।

वैदिक काल की अपेक्षा उत्तरवैदिक काल में आर्थिक क्षेत्र में कुछ परिवर्तन होना शुरू हो गया था। इस युग में कृषि के साथ ही साथ उत्तरवैदिक काल व्यापारिक दृष्टि से भी काफी

www.ignited.in

सम्पन्न माना जाता है। इस युग में चांदी से आभूषण और थालियां बनायी जाती थीं। लकड़ी से जहाज भी बनाये जाते थे। कपड़ों पर कसीदाकारी भी की जाती थी। वास्तुशिल्प के विकास की दृष्टि से भी यह युग काफी उन्नति पर था। यजुर्वेद में 10,800 ईंटों से चिड़ियों के आकार की एक वेदी बनाने का भी उल्लेख किया गया है। पुरातत्वज्ञों ने उत्तरवैदिक कालीन संस्कृति का समीकरण चित्रित भूरे मृदभाण्डों का प्रयोग करने वाली संस्कृति से किया है क्योंकि इनकी रेडियो कार्बन तिथियाँ ईसा पूर्व 1100 से 600 के बीच है और वे स्थान पर जहाँ इस प्रकार के भाण्ड मिले हैं, उत्तरवैदिक कालीन संस्कृति के केन्द्र थे। उदाहरण के तौर पर बरेली जिले और इलाहाबाद के निकट कौशाम्बी उत्तर प्रदेश में तथा पंजाब और राजस्थान आदि स्थानों पर इस प्रकार के भाण्ड मिले हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्तर वैदिक काल जहाँ सामाजिक जागरूकता, राजतंत्रिक संगठन एवं आर्थिक क्षेत्र में नये-नये अविष्कार होने प्रारम्भ हो गये थे, वहीं इस युग में राजतंत्र पर आधारित लोकतंत्र की शुरूआत भी हो चुकी थी। राजा का चयन सभा एवं समिति के माध्यम से होता है। उत्तरवैदिक काल में ब्राह्मणों का समाज में सर्वोपरि स्थान था। वह राजा का पुरोहित होता था। उसके द्वारा मन्त्रोच्चारण के साथ राजा का राज्याभिषेक कराया जाता था। सभा मंत्री के रूप में भी जाना जाता था राजा के पश्चात् सबसे महत्वपूर्ण राज्याधिकारी माना जाता था। उत्तर वैदिक काल में हमें वृहत्तर भारत के दर्शन होते हैं। इस काल में भारत की सीमा गान्धार, पश्चिमी पंजाब के रावलपिंडी, पेशावर, केकक एवं गान्धार के पूर्व में व्यास नदी तक, मद, कश्मीर, काँगड़ा, अमृतसर, उत्तरी भारत मत्स्य अलवर, जयपुर, भरतपुर, पांचाल, काशी, कोशल, विदर्भ, कलिंग, अश्मक, दण्डक आदि भारतीय गणराज्य के अन्तर्गत थे। इतने विशाल भूखण्ड के नागरिकों के जीविका का मुख्य आधार कृषि एवं पशुपालन था। समाज में आर्थिक वैषम्य व्याप्त था। धनी एवं निर्धन समाज अपने-अपने सामाजिक दायित्व का निर्वहन कर रहे थे।

व्यापार के कृषि उत्पादन वैश्य एवं शूद्रों के सहयोग से हो रहा था परन्तु व्यापार एवं कृषि के उत्पादन पर क्षत्रियों एवं ब्राह्मणों का नियंत्रण था। उत्तर वैदिक युग में वर्णव्यवस्था जाति व्यवस्था के रूप में स्थापित हो चुकी थी। इस युग में परिवार में पिता का स्थान श्रेष्ठ था। पति के साथ पत्नियों को धार्मिक अनुष्ठान सम्पन्न कराने का अवसर प्रदान किया गया था। पत्नी के अभाव में धार्मिक एवं सामाजिक अनुष्ठान पूर्ण हुआ नहीं माना जाता था। इस युग में दास-प्रथा का भी प्रचलन हो चुका था। उत्तर वैदिक काल में जाति-व्यवस्था पूर्ण रूप से कायम हो चुकी थी। इस युग में विवाह संस्कार के विभिन्न प्रचलित हो चुके थे। उत्तर वैदिक काल में सामाजिक परिवर्तनों का दौर प्रारम्भ हो चुका था। समाज में ब्राह्मणों की सामाजिक स्थिति सर्वोपरि थी। उन्हें मृत्यु लोक में देवता का स्वरूप माना जाता था। क्षत्रिय समाज राजसत्ता एवं देश सुरक्षा का प्रतीक बन चुका था। वैश्य व्यापारिक कार्य एवं कृषि उत्पादक के रूप में अपनी पहचान बना चुके थे। शूद्र समाज के सबसे निचले समाज सेवा करना इनके कर्तव्य निर्धारित कर दिये गये थे। अतः उत्तर वैदिक काल में भारतीय समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र चार भागों में बंटा था। आर्थिक दृष्टि से कृषि, पशुपालन के साथ ही साथ वाणिज्य एवं व्यापार भी उत्तरोत्तर प्रगति के पथ पर बढ़ रहा था। पणाध्यक्ष राजस्व संकलन कर्ता के साथ ही साथ वित्तीय व्यवस्था का संचालन कर रहा था। इससे यह प्रतीत होता है कि उत्तर वैदिक काल सामाजिक एवं आर्थिक रूप से ऋगवैदिक काल की अपेक्षा काफी विकसित हो चुका था।

उत्तर वैदिक कालीन साहित्य से यह भी ज्ञात होता है कि उस समय व्यापारी वस्त्र, पलंगपोश, बकरी की खाल आदि भी बेचा करते थे। तत्कालीन व्यापारी लोग जंगली पशुओं एवं डाकुओं से रक्षा करने के लिए इन्द्र की प्रार्थना करते थे। 'पणि' व्यापार और साहूकारी दोनों कार्य करते थे। संभवतः 'पणि' अनार्य थे जो वैदिक देवताओं की पूजा नहीं करते थे।

उत्तरवैदिक कालीन समाज में ब्राह्ममण और क्षत्रिय उत्पादन तो नहीं करते थे परन्तु उत्पादन का नियंत्रण उनके हाथों में था। समाज में उत्पादन का कार्य मात्र वैश्य एवं शूद्र ही किया करते थे। इस काल में कुछ विद्वानों के अनुसार ब्राह्मणों और क्षत्रियों में आपस में धान्य के लिए विरोध प्रारम्भ हो गया था किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि अन्त में ब्राह्मणों ने क्षत्रियों की प्रधानता मान ली। वैश्य ही अधिकतर उत्पादक थे। उन्हीं पर 'करो' का भार पड़ता था। इस लिए ऐतरेय ब्राह्मण में राजा को 'विशमत्ता' अर्थात् उत्पादक वैश्यों का भक्षक कहा गया है। राजा वैश्यों से उत्पादन के आधार पर 'कर' लेता था। वैश्यों को सेना के रूप में भी राजा की सहायता करनी होती थी। उत्तर वैदिक काल में आर्य सोना और अयस् (तांबा) धातुओं का प्रयोग करते थे। वे कपड़े बुनना जानते थे। ऊनी कपड़े अधिक पहने जाते थे। इस काल में सम्भवतः कपड़ा बुनने का कार्य स्त्रियां करती थीं। चमड़े के थैलों का उल्लेख भी ऋग्वेद में मिलता है। उत्तरवैदिक काल में व्यापार अधिकतर वस्तुविनिमय के द्वारा होता था किन्तु इसी काल में "गाय" को व्यापार अधिकतर आभूषण था किन्तु बाद में सम्भवतः इसका प्रयोग सिक्के के रूप में किया जाने लगा।

उत्तर वैदिक काल में कबायली संगठन में दरार पड़ गई और छोटे कबील एक दूसरे में मिलकर जनपदों में परिणत हो गए। उदाहरण के लिए "पुरू" और 'भरत' मिलकर "कुरू" हो गए और

www.ignited.in

तुर्वश' और क्रिवि मिलकर "पंचाल" कहलाए। इस काल में कुरू एवं पंचाल जनपदों का ही महत्व था, किसी जन विशेष का नहीं। हो सकता है कि लोहे के प्रयोग से इस प्रक्रिया को प्रोत्साहन मिला हो क्योंकि अन्तरजीखेड़ा में बड़ी संख्या में बरछियों और तीरों के लोहे के बने अग्र भाग मिले हैं। उत्तरवैदिक कालीन साहित्य में पैतृक राजतंत्र और राष्ट्र की संकल्पनाएँ स्पष्ट रूप से दिखाई देती है।

इस काल में लोहे के अर्थ में श्याम-अयस्श् शब्द प्रयुक्त हुआ है। लोहें का प्रयोग प्रारम्भ में युद्ध के अस्त्र बनाने में ही किया जाता था किन्तु कालान्तर में कृषि के उपकरण बनाने में भी इसका प्रयोग होने लगा। सम्भवतः उत्तर वैदिक काल में ही लोहे के फाल का प्रयोग प्रारम्भ हुआ जिससे कृषि में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ और पहले की अपेक्षा अत्यधिक अन्न का उत्पादन हुआ। इसी कारण इस काल में आसन्दीवन्त, कारौती, मष्णार, काम्पिल्य, कौशाम्बी और परिचक्रा जैसे नगरों का विकास हुआ।

इस काल में चांदी से आभूषण और थालियां बनाई जाती थीं। लकड़ी से जहाज भी बनाए जाते थे। कपड़ों पर कसीदाकारी की जाती थी। वास्तु शिल्प के विकास में भी बहुत उन्नति हुई। उत्तरवैदिक काल में कुछ लोग एक से अधिक पत्नियां भी रखते थे। उत्तरवैदिक कालीन साहित्य में राजा द्वारा चार पत्नियों को रखे जाने का उल्लेख यद्यपि इस काल में कुछ स्त्रियां बहुत विदुषी भी थीं। फिर भी ऋग्वैदिक काल की अपेक्षा उत्तर वैदिक काल में स्त्रियों की स्थिति बहुत खराब हो गयी।

प्राचीन भारतीय समाज का अर्थिक विकास

'पुरूषार्थ' के जीवन-दर्शन के माध्यम से हुआ जिसमें 'अर्थ' एक प्रधान तत्व के रूप में स्वीकार किया गया है। वर्णाश्रम धर्म का पुरूषार्थ से अत्यधिक सम्बन्ध रहा है, जो सिद्धान्त में ही नहीं बल्कि व्यवहार में भी था। 'वर्ण' और 'आश्रम' के अन्तर्गत रहकर व्यक्ति पुरूषार्थ के माध्यम से दैनन्दिन जीवन की अवश्यकताओं की पूर्ति तो करता था, साथ ही साथ वह अपना भौतिक एवं आध्यात्मिक उत्कर्ष भी करता था। इस लिए हिन्दू धर्मशास्त्रकारों ने पुरूषार्थ के अन्तर्गत 'अर्थ' का नियोजन किया है। मनुष्य की मनोवांछित सामग्री की पूर्ति 'अर्थ' द्वारा ही होती रही है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अर्थ मनुष्य के भौतिक और लौकिक सुख को प्रदान करने वाला विशिष्ट तत्व माना गया है द्य

वैदिक युगीन आर्यों की आर्थिक स्थिति कोई सुगठित और सुव्यवस्थित नहीं थी। पूर्व वैदिक युग में लोग मुख्य रूप से पशुपालन एवं कृषि पर ही निर्भर 26 रहते थे। वे अपनी प्रारम्भिक अवस्था में पर्यटन और यायावरी जीवन-शैली में अधिक आस्था रखते थे। उस समय के लोग अपने पशुओं को लेकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाया करते थे और जहाँ जीवनोपयोगी वस्तुएं इन्हें आसानी से उपलब्ध हो जाती थीं, वहाँ पर रहना शुरू कर देते थे। ऋग्वेद का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि आर्यों ने अपने यायावरी जीवन को स्थायी निवास में परिवर्तित करने के लिए अनार्यों से युद्ध किये । इस युद्ध में आर्यों ने यहाँ के मूल निवासियों (अनार्यों) की भूमि छीनकर कृषि के निमित्त एक सुव्यवस्थित आर्थिक आधार की नींव रखी।

समय बीतने के साथ ही साथ उत्तरवैदिक युग में आर्य अत्यधिक सम्पन्न हो गये जिससे उनकी आर्थिक स्थिति सशक्त और क्रियाशील हुई। उत्तरवैदिक युग में आर्यों ने कृषि कार्य एवं पशुपालन को विस्तृत रूप प्रदान करते हुए यहाँ के मूल निवासियों को 'दास' और 'शूद्र' के अन्तर्गत गृहीत कर सेवक के रूप में इन्हें लगाया तथा अपने आर्थिक विकास के लिए इनके श्रम का भरपूर उपयोग किया तथा यहाँ के मूल निवासियों को पूर्णतः अपनी इच्छा पर अवलम्बित कर दिया। भारत में आर्यों को कृषि और पशुपालन के अनुकूल प्रकृति, मौसम और एक विस्तृत उर्वर भूद्दभाग मिला। विवेच्य युग में आर्यों का विस्तार सिन्धु घाटी से लेकर गंगा की घाटी तक हो चुका था। उत्तर भारत का प्रदेश अत्यन्त उर्वर और उपजाऊ था तथा कृषि की दृष्टि से अत्यधिक उपयुक्त था। वैदिक युग में फसलों की सुरक्षा के लिए देवताओं से प्रार्थना की जाती थी जबकि उत्तरवैदिक काल में फसलों को टिड्डियों से रक्षित करने के लिए आर्य लोग अनेक यंत्रों का उपयोग करते थे। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उत्तरवैदिक काल में कृषि कार्य में यंत्रों का उपयोग एक क्रान्तिकारी आर्थिक परिवर्तन के रूप में माना जा सकता है। उत्तरवैदिक काल के आर्थिक क्रिया-कलापों के संबंध में शतपथ ब्राह्मण में यह उल्लेख मिलता है कि खेत जोतने के लिए वे 'कर्षण', बोने के लिए 'वपन', काटने के लिए 'कर्तन' और माड़ने के लिए 'मर्दन' शब्द का प्रयोग करते थे। उस समय खेत की जोताई (कृषन्तः) तथा अन्न की बोआई (वपन्तः), लवनी (लुनतः) और मड़नी (मृणन्तः) का उल्लेख इस बात का द्योतक है कि उत्तरवैदिक काल में कृषि-कर्म अत्यन्त व्यवस्थित स्वरूप ग्रहण कर चुका था। वर्षा एवं कुएं के पानी से सिंचाई न हो सकने पर उत्तरवैदिक काल में नहरों का सिंचाई के निमित्त उपयोग प्रारम्भ हो चुका था। साथ ही साथ उत्तरवैदिक काल में सीमित मात्रा में कृषि में लोहे का प्रयोग होने लगा था। इस युग में लोहे का प्रयोग कृषि कर्म में वैदिक युग की अपेक्षा अधिक होने लगा था।

उत्तर वैदिक युग में कृषि समाज में कृषि विकास का मुख्य आधार था लोहे के फल युक्त हल से खेतों की जुताई करना।

उत्तरवैदिक कालीन युग के एक लोहे का हल एटा जिले में उत्खनन में मिला है। पाणिनी से हमें ज्ञात होता है कि इस समय कुछ खेतों को दो या तीन बार जोता जाता था। संभवतः वैदिक युग की अपेक्षा इस युग में किसान लोहे की कुल्हाणी, दरांती आदि का उपयोग कर अधिक अन्न का उत्पादन करने लगे। उत्तरवैदिक काल में कृषि कार्य में लोहे के यंत्रो के प्रयोग से कृषि उत्पादन में वृद्धि हुई। गाँवों के बड़े किसान जिनके पास काफी भूमि होती थी 'गहपति' (गृहपति) कहलाते थे। कृषि की उन्नति के कारण 'गहपति' बहुत धनी हो गये थे। कृषि में अधिशेष अन्न उपलब्ध होने के कारण साधारण किसानों की भी आर्थिक दशा में सुधार हुआ। किसान स्वयं भी खेती करते थे और इस कार्य में मजदूरों की भी सहायता लेते थे। इस प्रकार हम देखते है कि उत्तरवैदिक काल में वैदिक काल की उपेक्षा कृषि कार्य काफी समुन्नत स्थिति में पहुंचा चुका था, जो इस युग का ... एक क्रान्तिकारी परिवर्तन कहा जा सकता है।

कृषि में इस क्रान्तिकारी विकास के कारण उत्पादन वृद्धि के साथ ही साथ चंपा, कौशाम्बी, राजगृह, श्रावस्ती, उज्जयिनी, वैशाली तथा पाटलिपुत्र जैसे नगरों का व्यापारिक केन्द्र के रूप में उत्थान हुआ। ये नगर व्यापारिक मार्गों पर स्थित थे इसलिए यहाँ पर व्यापार की बहुत उन्नति हुआ। इन नगरों में सुनार, बढ़ई, रेशम का कपड़ा बुनने वाले, हाथी के दाँतों का काम करने वालों की अपनी अलग-अलग व्यापार श्रेणियां थीं। प्रत्येक व्यापारिक श्रेणी के मुखिया को 'जेट्ठक' कहा जाता था। 'सेटिठ' साहूकार के काम के साथ ही साथ व्यापार भी स्वयं करते थे। इन व्यापारिक शहरों में दूसरा वर्ग 'कारीगरों' का था। शहरों में 'सेट्ठियों' एवं श्जेट्ठकों का बहुत सम्मान था। राजा भी इनका आदर करते थे। उत्तर वैदिक काल में व्यापारिक परिवर्तन की पृष्ठभूमि में तत्कालीन शिल्पियों का बहुत बड़ा योगदान था।

उत्तर वैदिक काल में तक्षा, कर्मार, हिरण्यकार, रथकार, चर्मकार प्रमुख औद्योगिक वर्ग थे। तक्षा (बढ़ई) खेत जोतने के लिए हल तथा लकड़ी की विभिन्न वस्तुए बनाता था। यह वर्ग लोगों के आवागम तथा सामान ढोने की गाड़ी भी निर्मित करता था जिसकी छत 'छंदिस' कही जाती थी। विवेच्य युग में नाव एवं पोत भी बनाये जाते थे। जो निश्चय ही 'तक्षा' की शिल्प-कला से बनते रहे होंगे। तक्षा 'परशु' और 'वाशी' (बसुले) से लकड़ी को गढ़ता था और उस पर सुन्दर नक्काशी करता था। कालान्तर में तक्षा रथ भी बनाने लगा था। रथों का निर्माण सुन्दर और सुविधाजनक रूप में होता था तथा यह आशा की जाती थी कि 'कार' वर्ग उस समय धातु का कार्य किया करता था। कार्षणायस (लोहे या ताँबा), हिरण्य (हरित, सुवर्ण, जातरूप), रजत (चांदी), त्रषु (टिन) आदि वस्तुओं का विवेच्य युगीन लोगों को ज्ञान था। वे इन धातुओं से अनेक वस्तुए बनाते थे। 'कार' कृषि के निमित्त 'अभू', 'दात्र', 'फाल' (हल) आदि निर्मित करता था। इसके साथ ही साथ कर्मकार घरेलू कार्यों के साथ ही साथ अस्त्र-शस्त्र जैसे-असि, परशु, पवीर, बाण, भाला, खड्ग आदि का भी निर्माण करते थे।

हिरण्यकार' विवेच्य काल में सोने के आभूषण निर्मित करता था। उस समय सोना सिन्धु नदी और भूमि दोनों स्थानों से प्राप्त किया जाता था। इस लिए सिन्धु को 'हिरण्यवर्तिनी' अथवा 'हिरण्ययी' कहा गया गया है। सोने को साफ करने की विधि भी ये लोग जानते थे। आभूषणों में उस समय 'निष्क', (हार) 'कुरीर' (मांगटीका), 'कुम्ब' (सिर का आभूषण), तथा कर्णशोभन आदि कई प्रकार के आभूषण उस समय बनते थे।

'रथकार' विवेच्य युग में रथों का निर्माण करता था। इस युग में रथकार इतना शक्तिशाली हो गया था कि उसे श्रोत यज्ञ सम्पन्न करने की अनुज्ञा प्रदान कर दी गयी थी। यज्ञ के साथ ही साथ वह अपना उपनयन भी करा सकता था और इसके द्वारा वह 'द्विज' की श्रेणी में आ सकता था।

अध्ययन का उद्देश्य

1. प्राचीन भारतीय समाज का अर्थिक विकास का अध्ययन
2. वैदिक कालीन भारत में सामाजिक आर्थिक विकास का अध्ययन

निष्कर्ष

उत्तर वैदिक युग से हमारा आशय ऋग्वेदोत्तर काल से है। उत्तरवैदिक कालीन राज्यों में सर्वाधिक विकसित कुरूक्षेत्र और पांचाल राज्य थे। यह राज्य अधिक सुसंस्कृति थे, और यज्ञ करने वाले थे। यहाँ अनेक विद्या-केन्द्र भी थे, जहाँ अध्ययन करने के लिए दूर-दूर से छात्र आया करते थे। उत्तरवैदिक काल में राजतंत्र तो था लेकिन राजा की राज्य-व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने के लिए 'सभा' और 'समिति' नामक संस्थाओं का निर्माण होता था, राजा को ये दोनों ही निरंकुश और स्वेच्छाचारी होने से रोकती थीं। उत्तरवैदिक युग में राजतन्त्र क्रमशः व्यवस्थित रूप ग्रहण कर रहा था और वह शक्तिमान होता जा रहा था। जब किसी देश के निवासी कृषि उत्पादन करना प्रारम्भ कर देते हैं तभी उनके समाज की सुव्यवस्थित संरचना सम्भव होती है। उत्तरवैदिक काल में अनेक शिल्प और व्यवसाय भी विकसित हो गये थे। तन्तुवाय (जुलाहे), रजक (रंगरेज), रज्जुकार, सुवर्णकार, लोहकार, रथकार, कुम्भकार (कुम्हार) नर्तक,

www.ignited.in

गायक, व्याप आदि कितने ही शिल्पियों का उल्लेख ब्राह्मण ग्रन्थों में विद्यमान है। धातुओं के ज्ञान में वृद्धि के कारण इस काल में आर्थिक उत्पादन के साधन बहुत उन्नत हो गये थे। वैदिक काल के आर्यों को प्रधानतया सुवर्ण और अयस् का ही ज्ञान था, पर इस युग में त्रपु (टिन), ताम्त्र तथा लौह आदि धातुएँ उपकरण बनाने के काम में भी आती थीं। तैत्तिरीय संहिता के एक संदर्भ से इस युग के शिल्पियों के सम्बन्ध में बहुत अच्छी जानकारी प्राप्त होती है। वहाँ तक्ष् (बढ़ई), रथकार, कुलाल (कुम्हार), कर्मकार या कर्मार (धातु शिल्पी) इशुकृत (तीर या बाण बनाने वाले), धन्वकृम (धनुष बनाने वाले) आदि शिल्पियों का नमस्कार किया जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि विविध प्रकार के शिल्प उत्तरवैदिक काल में सुचारू रूप से विकसित हो चुके थे।

संदर्भ

1. अग्निपुराण - पंचानन तर्करत्न द्वारा सम्पादित, बंगवासी प्रेस, कलकत्ता, 1950
2. अर्थवेद- डॉ0 आर0 रॉथ और डब्ल्यू0 डी0 हिटनी, बर्लिन, 1986
3. अमरकोश -अमर सिंह सम्पादित, गुरू प्रसाद शास्त्री, वाराणसी, 1950
4. अर्थशास्त्र -कौटिल्य, सम्पादक, देवदत्त शास्त्री, इलाहाबाद, 1957
5. आर्यमन्जु श्रीमूलकल्प - टी0 गणपति शास्त्री, गवर्नमेन्ट, त्रिवेन्द्रम, 1920
6. वासुदेव उपाध्याय - सेशियो-रिलिजस कण्डीशन आफ नार्थ इण्डिया, वाराणसी, 1964
7. ओमप्रकाश - प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास
8. वी०एन०एस० यादव -प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक जीवन, इलाहाबाद
9. विशुद्धानन्द पाठक - उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास
10. सचितानन्द मिश्रा -- स्टेट एण्ड सोसायटी, विश्व विद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर
11. काव्य मीमांसा -राजशेखर, सी0वी0 दलाल तथा आर0ए0 शास्त्री द्वारा सम्पादित, बडोदरा, गुजरात, 1934
12. कीर्तिकौमुदी - सोमेश्वरकृत, बम्बई, 1883

Corresponding Author

Rahul Ranjan Singh*

Research Scholar, Department of History